

चेतना के स्वरूप का दार्शनिक अध्ययन

डॉ. अमिय कुमार साहु

एसोसिएट प्रोफेसर (हिन्दी) एवं प्रमुख, भाषा संकाय, राष्ट्रीय रक्षा अकादमी, खड़कवासला, पुणे-411023

सारांश

यह शोध, चेतना के स्वरूप पर आधारित है। धरती पर मनुष्य के आविर्भाव के साथ-साथ यह प्रश्न लगातार उसे सोचने के लिए मजबूर करता आ रहा है कि 'चेतना' क्या है? इसका स्वरूप क्या है? भारत में वेद काल से लेकर आज तक, भारत और पाश्चात्य के दर्शनिकों, चिंतकों ने इसे सोचने-समझने की कोशिश की है; इसे परिभाषित करने की कोशिश की है। इन्हीं परिभाषाओं का सम्पूर्ण विप्लेषण करना और एक नतीजे तक पहुँचना, इस शोध-लेख का उद्देश्य है।

प्रस्तावना

मानव धरती का श्रेष्ठतम प्राणी, इस अर्थ में है कि वह जानवान है; जिसके तहत वह संसार के बारे में सवाल खड़ा कर सकता है, टकटकी बांधे उसे देख सकता है, अपने अस्तित्व के बारे में विचार कर सकता है। इसी कारण वह संसार के अन्य पदार्थ और प्राणियों से अलग होने का दावा करता आ रहा है। वनस्पति जगत, पशु जगत सबसे वह न्यारा है। इसके पीछे एक ही तथ्य है - उसका सचेतन होना और यही सचेतनता ही मनुष्य को सबसे ऊंचे स्थान का अधिकारी बनाया है। "यह चेतना की उपस्थिति ही थी जो मानव को अन्य भौतिक प्रकृति से अलग करने का सफल कारण प्रस्तुत कर सकता था। निश्चित ही चेतना का एक रूप मानवेतर प्राणियों में निहित है। पर जहां तक आत्म-चैतन्य का सवाल है, मानवेतर प्राणियों की चेतना की स्थिति की प्रकृति मानव की चेतना की स्थिति से अलग है"।ⁱ इसी आत्म-चैतन्य के कारण वह सृष्टि का एक हिस्सा होते हुए भी उससे अलग होकर यह जानने के लिए बेताब हो सकता था कि आखिर इस सृष्टि किसलिए है; इसके सृजनकर्ता कौन है? सबसे बेहतर सवाल यह है 'मैं कौन हूँ?' 'मैं क्यों हूँ?'। अचेतन जगत यह सवाल उठाने में असमर्थ है। "अचेतन जगत यह नहीं कर सकता है, ना वह यह जान सकता है कि अपने लंबे इतिहास के दौर में वह स्वयं वशात मानव में विचार और चेतना की एक अपूर्व घटना को विकसित कर सकता है। एक अर्थ में उसने अपना एक अन्य प्रतिद्वंदी विकसित कर लिया था जो कि पीछे घूम कर देख सकता था, विमर्श कर सकता था और अपने ही सृष्टा का आलोचक हो सकता था"।ⁱⁱ

मनुष्य का आत्म-चैतन्य होना उसके लिए सबसे बड़ा आशीर्वाद है, पर मानव उसका उपयोग श्राप के रूप में कर रहा है। आज जब सारा विश्व बचे रहने की एक वृहद संकट से गुजर रहा है, तब हम इसे महसूस कर सकते हैं। विश्व को एक संशयात्मक माहौल ने घेर रखा है। आज चारों ओर युद्ध की वारदात छिड़ गई है। धर्म, जाति, स्त्री, दलित की समस्या, आबादी की समस्या, प्रदूषण की समस्या आदि कितने ही समस्याओं का शिकार है। इसका कारण अपने भीतर और बाहर चल रहे द्वन्द्व में संगति बिठाने में हम नाकामयाब हो रहे हैं। सारी विसंगतियां, अव्यवस्था, गड़बड़ी का बीज हमारी चेतना है। आइनस्टाइन ने कहा था “Even an issue like nuclear war cannot be examined at the level at which the problem has arisen but has to be viewed from a higher level of awareness”.ⁱⁱⁱ मानव के लिए सबसे बड़ी दुख की बात यह है कि उसमें यह सचेतनता नहीं रह गई है। उसकी चेतना में एक स्थाई और अंदरूनी फाट दिखाई पड़ रहा है, जिसके कारण हमें जातीय, नैतिक, जाति, वर्ग, वर्ण, लिंग आदि हर क्षेत्र में विभाजन ही विभाजन नजर आ रहा है। कोई अपने को मुस्लिम कहता है, तो कोई अपने को हिंदू, कोई अपने को ईसाई कहता है तो कोई अपने को जैन; कोई अपनी जातीयता को सबसे ऊंचा ठहरा रहा है तो कोई नैतिकता का सारा बोझ लेकर घूमने का दावा कर रहा है। यह सारे विभाजन, विखंडन हमारी चेतना के विखंडन का बाह्य प्रकटीकरण है। सुनंदा पटवर्धन के शब्दों में “ Our consciousness is fractured by pain, suffering, agony, the agony of growing old, being unwanted, unlooked wanting to be something and not attaining it.”^{iv} यही फाट के कारण ही मनुष्य स्वार्थी बन गया है, एक दूसरे से नफरत करने लगा है, वह संसार के अन्य प्राणियों के प्रति कठोर बन गया है। उसने सभी से हिंसा की है और सारी शांति, सारे आनंद को खुद ही खो दिया है।

इस संशयात्मक, विखंडित, माहौल में चेतना की गवेषणा करना, उसके स्वरूप को जानना, उसके बारे में ज्यादा से ज्यादा ज्ञान प्राप्त करना अब आवश्यक हो गया है। इसका आरंभ इस सवाल से हो सकता है कि आखिरी चेतना क्या है? “चेतना में किसी बोधात्मक क्रिया के अंतर्गत विषय और विषयी के पारस्परिक संबंध का ज्ञान निहित है, क्योंकि कोई भी कभी भी अनुभव मूलक रूप से स्वयं अपने ‘स्व’ के अहं प्रत्येय के प्रति भी चेतन हुए बिना चेतन नहीं होता है। चिंतनशील स्वभावना चेतना के जगत को अचेतना के जगत से तीक्ष्णता के साथ पृथक कर देती है।”^v इससे स्पष्ट है कि चेतना में द्वैतता है; ‘एक विषय’ है और एक विषयी। जब हम यह कहते हैं कि ‘मैं स्वयं को जानता हूँ’ तब हम चेतना को दो भागों में बाँट देते हैं। एक है ‘ज्ञाता’ या जाने वाला, दूसरा है ‘ज्ञेय’ या ज्ञाता जिसको जानता है। यही द्वैतता हमारी चेतना का लक्षण है। तो क्या यह द्वैतता स्थाई है या एक ऐसा समय आता है जब चेतना अद्वैत बन जाती है। इसके संबंध में और भी बहुत सारे सवाल उठते हैं जैसे चेतना स्वयं में क्या है? क्या वह कोई ठोस पदार्थ है? कोई गुण है? क्या प्राणवान होना चेतन होना है? क्या चेतना का ज्ञान कराने

वाली बुद्धि है ? क्या यह शाश्वत अपरिवर्तनीय रूपांतरण ही है ? या वह क्षणिक परिवर्तनशील आदि।

इन सवालों के उत्तर के लिए हमें इतिहास की ओर लौटना होगा। इतिहास के पृष्ठों को खोलते हुए चिंतकों के चिंतन की छानबीन करनी होगी ; चिंतको ने चेतना के सत्ता मीमांसात्मक, ज्ञान मीमांसात्मक, मनोवैज्ञानिक आदि कितने ही रूपों को उभारा और उसका परीक्षण किया है। भारत में वेद-उपनिषद् काल से लेकर 17वीं सदी तक इससे संबंधित विचारधारा प्रवाहित रही है। सिर्फ भारत में ही नहीं, पाश्चात्य जगत में यूनान के दार्शनिक प्लेटो अरस्तू से लेकर देकार्त, ह्यूम काँट, हेकले, जेम्स वाई, युंग, फ्राएड आदि कितने ही दार्शनिक हुए, जिन्होंने चेतना के बारे में गंभीरता से विचार किया है।

भारतीय दृष्टिकोण

भारत एक दार्शनिक देश रहा है। भारतीय चिंतकों ने दर्शन से संबंधित हर सवाल का उत्तर खोजने की चेष्टा की है ; अंतिम सत्य तक पहुंचने का प्रयत्न किया है। दर्शन का अर्थ भी यही है- सत्य को देखना। सत्य तक पहुंचने की, उसे देखने का अनुराग भारतीय चिंतकों को जितना रहा शायद ही और किसी देश के चिंतकों को रहा हो। सत्य की खोज करने के क्रम में भारत में अनेक दार्शनिक संप्रदायों का विकास हुआ। इनमें से कुछ आस्तिक थे ; जैसे मीमांसा, वेदांत, सांख्य, योग, न्याय आदि और कुछ नास्तिक जैसे चार्वाक, बौद्ध, जैन आदि। यह नास्तिक इसलिए कहे जाते थे कि वे वेद को नहीं मानते थे।^{vii} दर्शन चाहे आस्तिक हो या नास्तिक स भी में संसार के बारे में, संसार में मानव के अस्तित्व के बारे में, सबसे बढ़कर मानव की चेतना के बारे में विचार किया गया है।

यह वेद ही है जिसमें पहले चेतना के बारे में उल्लेख मिलता है। यह चेतना के प्रसाद के भीतर प्रवेश करने के लिए कुंजी के रूप में काम करता है और इसकी आधारशीला पर चेतना के स्वरूपदर्शन का विशाल भवन खड़ा होता है। हां, यह ध्यान देना आवश्यक है कि इसमें चेतना के बदले 'मन' शब्द का प्रयोग किया गया है। ऋग्वेद में कहा गया है "उस समय ना असत् था, ना सत् था; तब पहली बार काम का उद्भव हुआ, जिसमें मनस का आदि बीज छिपा हुआ था"।^{viii} इस मन को यजुर्वेद में एक विशिष्ट ज्योति, प्रजा का अमृत, तीनों कालों की सीमाओं तक विचरण करने वाला, तीनों वेदों का केंद्र बिंदु तथा समस्त प्रजाओं को भी पिरोने वाला कहा गया है।^{ix} जब इसे विशिष्ट ज्योति, प्रजा का अमृत, कहा गया तब यह स्वयं हृदयान्तर की चीज बन गई; जब इसे प्रजाओं को पिलाने वाला कहा गया, तब यह एक मंगलमय सत्ता के रूप

में हमारे सामने आता है। यह समस्त सृष्टि के प्रति आस्थावान हो सकता है, जीवन की पूर्णता की तलाश कर सकता है। वह प्रजाओं को पिरोने के लिए आदर्श जीवन मूल्यों का निर्माण कर सकता है; हर प्रकार के संघर्ष से उन्हें बचा सकता है। सारांशतः मन को वेद में एक ज्योतिर्मयी मंगलकारी आंतरिक सत्ता माना गया है।

वेद में चेतना के बारे में ज्यादा विचार विमर्श नहीं किया गया, बस यह सवाल उठाकर छोड़ दिया गया कि “मैं वस्तुतः कौन हूँ? मैं नहीं जानता”।^x उपनिषद में, इसको प्रारंभिक बिंदु मान कर उससे संबंधित गंभीर चिंतन हुआ। मैं कौन हूँ! और मैं स्वयं को नहीं जानता हूँ! मैं ‘मैं’ और ‘स्वयं’ के बारे में विचार गया। स्पष्टतः यहां चेतना की द्वैतता को स्वीकारा गया है। मुंडक उपनिषद में यह कहा गया है कि वह चेतन -सत्ता-रूप विराट-पुरुष, दिव्य-आभा से युक्त होता हुआ भी अमूर्त है; बाहर होता हुआ भी अंदर है; संसार को उत्पन्न करता हुआ भी स्वयं उत्पन्न नहीं होता; प्राण का संचार करते हुए भी स्वयं अप्राण है। फिर आगे कहा गया-

एतस्माज्जायाते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणी च।^x

अर्थात् प्राण, मन, इंद्रियां उसीसे उत्पन्न होती है। इसमें इंद्रियां, शरीर आदि से मन को सूक्ष्मतम बतलाया गया है।

इंद्रिएभ्य परा इमर्थ अर्थभेश्च परं मनः।

xi

मन, इंद्रियों और उनके विषय, रूप, रस, गंध आदि से परे है। इंद्रियां दिखती हैं ये दिखता नहीं; इंद्रियां स्थूल है यह सूक्ष्म है। विषयों की अपेक्षा मन पर है। इसमें मन को शरीररूपी रथ और इंद्रियों रूपी घोड़ों को नियंत्रित करने वाला लगाम कहा गया है।^{xii}

पहले यह प्रश्न उठाया गया था कि यह ‘मैं’ और ‘स्वयं’ क्या अलग-अलग सत्ता हैं। इस समस्या का समाधान के लिए हमें मांडूक्य उपनिषद की ओर ध्यान देना होगा जिसमें चेतना के चार सोपान के बारे में उल्लेख है - जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। पहली अवस्था जागृति की है, जब आत्मा बाह्य पदार्थों का ज्ञान रखती है तथा भौतिक वस्तुओं का उपभोग करती है। इस अवस्था में उसे वैश्वानर कहा जाता है। “इस अवस्था में अपने को आत्मा से भिन्न माना जाता है”।^{xiii} इसके आगे दूसरी अवस्था है स्वप्न की, जिसे तेजस भी कहा जाता है। इस अवस्था में ‘मैं’ को आभ्यंतरिक सत्ता की चेतना होती है और वह सूक्ष्म पदार्थों का उपभोग करता है। बृहदारण्यक उपनिषद में कहा गया है कि “हमें अनुभव करना चाहिए कि अपने मूल रूप में हम विशुद्ध चेतना से (आत्मा से) अभिन्न हैं”।^{xiv} तीसरी अवस्था सुषुप्ति की है जब मनुष्य में कोई कामना नहीं रह जाती और इस अवस्था में वह वास्तविकता के बहुत निकट पहुंच जाता है और यहां ‘मैं’ और ‘स्वयं’ का भेद मिटता जाता है। इसे प्रज्ञा अवस्था भी कहते हैं। चौथी अवस्था

तुरीय अवस्था है जिसमें 'मैं' और 'स्वयं' का भेद मिट जाता है; यह आभास होता है कि 'मैं ही ब्रह्म हूँ'। इस समय न बाह्य का ज्ञान रहता है, ना अंतर का और आत्मा सिर्फ ज्ञान का पुंजीभूत स्वरूप नहीं रह जाती। वह चेतन अवचेतन से परे हो जाती है। तब वह अदृष्ट, अलक्षण और अचिंतन, शांत, अद्वैत, शिव, आनंद हो जाती है।^{xv} इस अवस्था को आत्म-चैतन्य और प्रजातीत भी कहा गया है। इस अवस्था में सर्वत्र ब्रह्म का आभास होता है - 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।'^{xvi}

सारांशतः हम उपनिषद में एक ऐसी चीज का आविष्कार करते हैं जो विषय और विषययादि भेदों से मुक्त है। यहां कोई ज्ञान नहीं; कोई ज्ञाता नहीं। यह अनिर्वचनीय, अवर्णनीय और अचिंतनीय शुद्ध-चित है।

आर्थिक दर्शनों के अंतर्गत साधारणतः षडदर्शनों को स्थान प्राप्त है। ये हैं - मीमांसा, न्याय, योग, वैशेषिक, वेदान्त, सांख्य। इसके अलावा पाणिनीय, रसेश्वर दर्शन को भी आस्तिक दर्शन कहा गया है। इन सारे दर्शनों में मुंडे-मुंडे मतिभिन्ना के अनुसार चेतना के बारे में भिन्न-भिन्न तर्क दिया गया है। कहीं-कहीं थोड़ी बहुत समानता भी नजर आ जाती है।

न्याय और वैशेषिक दर्शन में मन का वैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है। महर्षि कणाद मन की सत्ता का विश्लेषण करते हुए कहते हैं - "आंख, कान आदि ज्ञानेंद्रियों का जब रूप, शब्द आदि विषयों से संपर्क होता है तब भी ज्ञान नहीं होता"।^{xvii} इससे यह अर्थ निकलता है कि कभी-कभी ऐसा होता है कि हमारी आंखों के सामने अनेक दृश्य गुजर जाते हैं, पर किसी के पूछने पर हम कह देते हैं कि यह दृश्य हमने नहीं देखा। इससे प्रतीत होता है कि हमारी आत्मा और इंद्रियों का वस्तु से संपर्क होने पर भी हमें चीजों का ज्ञान नहीं होता। यह स्पष्ट है कि बीच में ऐसी कोई सत्ता अवश्य है जिसके ना होने से हमें ज्ञान नहीं होता। यही सत्ता मन है।

न्याय-दर्शन चेतना को मन से अलग करता है। इसमें मन को आत्मा के अधीन कहा गया है। इसलिए यह चैतन्य धर्म से रहित है।^{xviii} चेतना को शरीर का धर्म ही नहीं माना गया; न्यायकार का कहना है जब तक शरीर है, तब तक रूप आदि धर्म विद्यमान रहते हैं।^{xix} पर मृत्यु के बाद शरीर रहता है, चेतना नहीं रहती। अतः चेतना शरीर का धर्म नहीं हो सकता; इसमें चेतना को आत्मा का आकस्मिक गुण माना गया है। आत्मा में चेतना का संचार तभी होता है जब उसका मन, मन के साथ, मन का इंद्रियों के साथ और इंद्रियों का बाह्य वस्तुओं के साथ संपर्क होता है। इससे स्पष्ट है कि चेतनता को भौतिक प्रकृति के प्रति आत्मा की प्रतिक्रिया मानी गई है। इससे यह अर्थ निकलता है कि चेतना न स्वयं-प्रकाश है; न स्वयं-सिद्ध। यह दूसरे पदार्थों को प्रकाशित करती है।

सांख्यदर्शन न्याय का विरोध करते हुए कहता है, चेतना आत्मा का गुण नहीं, उसका स्वभाव है। आत्मा शुद्ध-चैतन्य रूप है जो सर्वदा ज्ञाता के रूप में रहता है। सांख्यदर्शन कुछ हद तक उपनिषद् को मानते हुए भी कुछ हद तक उसका विरोध करता है। यह आत्मा को उपनिषद् की तरह शुद्ध-चैतन्य तो मानता है पर इसे आनंदमय नहीं मानता। चेतना को सुख-दुख का भोग करने वाला तो बलताया गया है;^{xx} पर इस भूख से उसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। अनुभव चेतना के कारण होता है परंतु उसमें किसी भी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता। उदयवीर शास्त्री एक उदाहरण के माध्यम से इसे स्पष्ट करते हैं “जैसे स्वच्छ जल में चंद्र के प्रतिबिंबित होने पर जल की अपनी वास्तविक स्वरूप में किसी प्रकार का विकार नहीं आता, ठीक उसी तरह बुद्धि के संपर्क या सहयोग से सुख-दुख आदि का साक्षात् अनुभव करने पर भी आत्मा के अपने शुद्ध-चेतन स्वरूप में किसी भी प्रकार का अंतर या विकार नहीं आता”^{xxi} जो शुद्ध-चेतन है, वह ज्ञान का विषय नहीं; वह स्वयं ज्ञाता है। सांख्य दर्शन में पुरुष (आत्मा या शुद्ध चैतन्य) और प्रकृति को अलग-अलग देखा गया है। यहां द्वैतवादी स्थिति दिखाई देती है; आनंद प्रकृति का गुण होने के कारण, चैतन्य आनंदमय नहीं हो सकता; वह द्रष्टा होता है।

जब सांख्य, प्रकृति और पुरुष की एकता की बात नहीं करता तब योगदर्शन इस स्थिति में इनकी एकता को दर्शाता है। योग के अनुसार साधारणतः चित को मन, बुद्धि, अहंकार से युक्त माना जाता है। इसमें तम, रज, सत्व तीन गुण विद्यमान रहते हैं। इसकी पांच भूमियां रहती रहती हैं- क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र, निरुद्ध। क्षिप्त और मूढ़ दशा में चित तमोरजो गुणों से युक्त होने पर विवेकशून्य बना रहता है; जिसके कारण वह दुख को ही अर्जित करता है। विक्षिप्त अवस्था में वह सत्व गुण की ओर बढ़ता है। अंतिम दो दशाओं में वह पूर्णतया सत्व गुण से युक्त हो जाता है और शुद्ध-चैतन्य बन जाता है। इस अवस्था में सांख्य का पुरुष, योग के अनुसार प्रकृति से संयोग स्थापित कर लेता है और चित अपना सही चेतनत्व प्राप्त करता है।^{xxii}

मीमांसा दर्शन में चेतना को आत्मा की क्रिया बतलायी गई है। यह तीन प्रकार का काम करती है- एक ही समय में वह बाह्य विषय को, आत्मा को और स्वयं को प्रकाशित करती है; जैसे दीपक एक साथ बाह्य वस्तु को, स्वयं के आधार-पात्र को और स्वयं को प्रकाशित करता है। चेतना, स्वयं अपने को, ज्ञाता को, ज्ञेय को प्रकाशित करती है। यह सांख्य के निकट पड़ता है। यहां आत्मा को ज्ञाता माना गया है, चेतना को उसकी क्रिया।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन में चित को एक विलक्षण, निरपेक्ष स्वयं-सिद्ध सत्ता माना गया है। इसे परमतत्व कहते हुए प्रत्यभिज्ञा दर्शन इसके प्रकाश-विमार्शात्मक गुण को स्वीकारता है। वह प्रकाशमान इसलिए है कि उसके रहने पर अन्य वस्तुएं प्रकाशित होती हैं। वह विमार्शात्मक इसलिए है कि वह स्वयं में पूर्ण है, स्वतंत्र है। इस विमार्शात्मक शक्ति के तहत चित्त को

अपने चेतनत्व (शिवत्व), अपने प्रकाश का ज्ञान होता है। यही चिति ही विश्वसिद्धि अर्थात् सृष्टि, संहार का कारण बनती है। -'चिति: स्वतंत्रा विश्वसिद्धिहेतु'^{xxiii} -और वह अपनी इच्छा से विश्व को व्यक्त करती है। विश्व अव्यक्त रूप में रहता है , वह उसे व्यक्त करती है ।^{xxiv} जब यह चिति विमार्शात्मक शक्ति से रहित हो जाती है , तब वह संकुचित होकर चिति (समष्टि चेतना) से चिति (व्यष्टि चेतना) बन जाती है।^{xxv} प्रत्यभिज्ञा दर्शन में चेतना का सही रूप चिति का समष्टि चेतना होना है; जो शिवमय, मंगलमय है।

पाश्चात्य दृष्टिकोण

चेतना के स्वरूप को विचारने वाले पाश्चात्य दार्शनिकों की परंपरा बहुत पुरानी है। 19वीं सदी से पूर्व प्लेटो, अरस्तू, देकार्त, ह्यूम, काँट से लेकर 19वीं सदी में डिमाकृटेस, हेकले आदि दार्शनिकों ने चेतना पर अपना अपना मत प्रकट किया है। प्लेटो जो प्रत्येयवादी दार्शनिक था, के अनुसार प्रत्येय द्वारा बाह्य वस्तु का ज्ञान होता है। यह प्रत्येय मनुष्य का धर्म है जो पूर्ण, शुद्ध और नित्य होता है। यह ईश्वर का स्वरूप होता है। इसे संवित भी कहा गया है। यही संवित सब वस्तुओं का प्रथम नमूना है और सांसारिक वस्तुएं, इसी नमूने की नकल है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि संवित और मूर्त वस्तुएं अलग अलग हैं। इन दोनों को मिलाने वाली कोई सत्ता होनी चाहिए और यह सत्ता है - आत्मा; जो चेतन -स्वरूप है। अर्थात् चित ही संबित और सांसारिक वस्तुओं को जोड़ने वाला माध्यम है । प्लेटो ने आत्मा को, जो चेतन - स्वरूप है , के दिव्य रूप जिसको उसने तर्क कहा था; शरीर में रहते हुए भी उससे अलग माना है।

उनके शिष्य अरस्तू इन दोनों के संबंध को बहुत निकट ले आए थे । उस चेतन स्वरूप आत्मा को उन्होंने शरीर की वास्तविकता तथा पूर्णता माना था। "उसका शरीर से वही संबंध होता है जो दृष्टि का आंख से होता है अथवा जैसे मोम का संबंध मोम की छाप से होता है"।^{xxvi} अर्थात् चेतना, शरीर का प्रयोजन और पूर्णता है ; जिसके कारण शरीर का अस्तित्व है और वह पूर्णता को प्राप्त होता है।

आत्मा या मानस को शरीर से भिन्न मानकर प्लेटो ने जिस द्वैतता का सृजन किया था; इसका उग्र रूप हम देकार्त के दर्शन में पाते हैं।^{xxvii} उनके अनुसार मानव शरीर भौतिक पदार्थ है ; इसकी व्याख्या यांत्रिकीय नियम के आधार पर की जा सकती है । पर मानवीय -आत्मा शरीर के यांत्रिकीय नियमों से संचालित नहीं होती। संदेह विधि द्वारा इसे स्पष्ट करते हुए उसने कहा कि आत्मा का मुख्य गुण चेतना है या वह चेतन स्वरूप है । इसको जानने के लिए किसी पदार्थ ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती । 'संदेह विधि' के अनुसार बाह्य-इंद्रिय-ज्ञान और वैज्ञानिक-ज्ञान

संदेह से परे नहीं है ; इसलिए नहीं है कि हम कभी कभी रस्सी को सांप समझ लेते हैं और इंद्रियां धोखा खा जाती हैं । चाहे जिस पर संदेह किया जा सकता है लेकिन 'मैं' पर संदेह नहीं किया जा सकता । क्योंकि संदेह करने वाला वही है । उसका अस्तित्व इसलिए है कि वह खुद सोचता है . देकार्त के अनुसार 'मैं सोचता हूं इसलिए मैं हूं ' अर्थात मैं या आत्मा जो चेतन स्वरूप है, स्वयं प्रकाश है।

इस बात का विरोध पहले ह्यूम^{xxviii} किया। उनके अनुसार 'मैं सोचता हूं इसलिए मैं हूं ' ; इस तर्क से स्वतंत्र-आत्मा या चेतना का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। सोचने के क्रम में हर मनुष्य को अपने विचार, अपनी भावनाओं से टकराना पड़ता है। उन्होंने खुद कहा है "जहां तक मेरा संबंध है जब मैं अपने अंतर में एकाग्र होकर प्रवेश करता हूं तो हमेशा किसी न किसी विचार के प्रत्यय से ठोकर लगती है; चाहे वह प्रत्येय गर्मी का हो या सर्दी का , प्रकाश का हो अथवा अंधकार का या प्रेम, द्वेष, दुख अथवा सुख का प्रत्यय हो "।^{xxix} सारांशतः ह्यूम चेतना या आत्मा को इन्हीं विचारों, प्रत्ययों का समूह मानते हैं।

कांट जर्मन का दार्शनिक था इसने आत्मा को एक स्वतंत्र वस्तु के रूप में स्वीकार किया है और इसका संबंध आत्मज्ञान से स्थापित किया है। यही आत्मज्ञान ही चेतना है , यह चेतना अपना ध्यान खुद नहीं कर सकती ; यह शुद्धचेतना अपना ज्ञान स्वत-विषय-ज्ञान के माध्यम से कराती है। यह स्वतः विषय ज्ञान देश से संग्रहित अंतःकरण है ^{xxx} जो मनुष्य की चेतना में रहता है । अर्थात चेतना देश के माध्यम से 'मैं हूं' का बोध कराती है' पर 'मैं क्या हूं' का बोध नहीं कराती। आशय यह है कि उसे परिभाषित नहीं किया जा सकता; यह एक अनिर्वचनीय सत्ता है।

19वीं सदी में डिमाकृटेस, हेकले आदि चिंतकों ने भौतिकवादी सिद्धांत के आधार पर चेतना को समझाया है। डिमाकृटेस ने इसे शरीर की भांति परमाणुओं से निर्मित माना है जो केवल अधिक गोल-मटोल तथा चिकने कि सम की होती है । हक्सले भी चेतना को स्नायुतंत्र की प्रक्रिया से उत्पन्न मानते हैं। भौतिकवादियों के अनुसार "स्नायुमंडल की अत्यंत जटिल यांत्रिकता में ऊर्जा के रूपांतरण से चेतना उत्पन्न होती है"।^{xxxi}

निष्कर्ष

आधुनिक विज्ञान भी भौतिकवादियों की तरह मानव के जीवकोष (Cell) में चेतना का अस्तित्व मानता है। जब हमारे मस्तिष्क पर एक ह थोड़ा पड़ जाए तो हमें कुछ नहीं सूझता , चारों ओर अंधेरा ही अंधेरा दिखाई देता है ; हम चेतनता खो देते हैं । इससे यह बात स्पष्ट होता है कि हमारी चैतन्यता सेल के कारण है । पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि सेल में चेतनता का

आगमन कैसे हुआ? सेल में जो उपादान हैं, क्या उस उपादानों के मिश्रण से चेतनता आ जाती है? इस प्रश्न का उत्तर खोजने के क्रम में हमें जीवमूल का विश्लेषण करना होगा। आधुनिक आधिभौतिक विज्ञान के अनुसार जीवमूल के प्रत्येक 100 भाग में कार्बन 55 भाग, ऑक्सीजन 23 भाग, नाइट्रोजन 14 भाग, उदजान 7 भाग, गंधक और अन्य पदार्थ एक भाग रहता है। ये सब निर्जीव तत्व के मिश्रण से जीवमूल बनता है। अब यह प्रश्न उठता है कि निर्जीव पदार्थों के योग से जीवमूल सजीव कैसे होता है? क्या उन पदार्थों में चेतना का अंश विद्यमान रहता है और मिश्रित अवस्था में आविर्भूत हो जाता है? पर यह इसलिए गलत साबित हो जाता है कि विज्ञान उपादानों का मिश्रण कर चेतन जीव-मूल का सृजन नहीं कर सकता। यदि यह तर्क दिया जाए कि एक सेल से विज्ञान हजारों सेल वाली 'डॉली' बना सकता है; तो भी यह तर्क सही नहीं होगा। कारण यह है कि विज्ञान, एक मूल सेल बिना कुछ नहीं कर सकता और उसी सेल के निर्माण करने में वह असमर्थ है। उपरोक्त विवेचन के आलोक में हम निर्विवाद रूप से यह कह सकते हैं कि चेतना अंजान बाह्य सत्ता का वरदान है। विज्ञान जितनी भी कोशिश क्यों न करें, इसकी सत्यता जानने में असमर्थ रहेगा। चेतना विज्ञान के पहुँच से कहीं ऊपर वेद के अनुसार ज्योतिर्मयी, मंगलकारी; उपनिषद के अनुसार अवर्णनीय, अनिवर्चनीय; आस्तिक दर्शनों के अनुसार सबको प्रकाशित करने वाला, प्लेटो के मत में दिव्य और प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार शिव-स्वरूप है।

ⁱ Agarwal MM - Consciousness and the integrated being; P 05; National Publishing House, New Delhi.

ⁱⁱ सक्सेना श्रीकृष्ण - भारतीय दर्शन में चेतना का स्वरूप; विद्या भवन, चौखम्बा वाराणासी 1969

ⁱⁱⁱ Patwardhan Sunanda - Learning about consciousness, P-1; Krishnamurty Foundation, India 1992.

^{iv} Patwardhan Sunanda - Learning about consciousness, P-1; Krishnamurty Foundation, India 1992.

^v सक्सेना श्रीकृष्ण - भारतीय दर्शन में चेतना का स्वरूप; विद्या भवन, चौखम्बा वाराणासी 1969

^{vi} 'नास्तिको वेद निंदक'

^{vii} विश्वबंधु(सं)- वेद-शास्त्र संग्रह, पृ. 87-88; साहित्य अकादमी, नई दिल्ली।

^{viii} विश्वबंधु(सं)- वेद-शास्त्र संग्रह, पृ. 147-148 साहित्य अकादमी, नई दिल्ली।

^{ix} सक्सेना श्रीकृष्ण - भारतीय दर्शन में चेतना का स्वरूप; विद्या भवन, चौखम्बा वाराणासी 1969

^x सिद्धालंकार सत्यव्रत- एकादशोपनिषद, पृ. 137; विजयकृष्ण लखनपल्ली एंड कंपनी, विद्याविहार देहरादून 1974

^{xi} सिद्धालंकार सत्यव्रत- एकादशोपनिषद, पृ. 137; विजयकृष्ण लखनपल्ली एंड कंपनी, विद्याविहार देहरादून 1974

^{xii} विश्वबंधु(सं)- वेद-शास्त्र संग्रह, पृ. 158 साहित्य अकादमी, नई दिल्ली।

^{xiii} रानाड़े रामचन्द्र- उपनिषद दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, पृ 284; राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर 1971

^{xiv} रानाड़े रामचन्द्र- उपनिषद दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, पृ 284; राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर 1971

- ^{xv} रानाड़े रामचन्द्र- उपनिषद दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, पृ 257; राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर 1971
- ^{xvi} रानाड़े रामचन्द्र- उपनिषद दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, पृ 285; राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर 1971
- ^{xvii} सक्सेना श्रीकृष्ण - भारतीय दर्शन में मन का स्वरूप ;पृ 91 विद्या भवन, चौखम्बा वाराणासी 1969
- ^{xviii} शास्त्री उदयवीर- न्याय दर्शनम,पृ 352; गोविंदराम दासानंद, दिल्ली-61991
- ^{xix} शास्त्री उदयवीर- न्याय दर्शनम,पृ 364 गोविंदराम दासानंद, दिल्ली-61991
- ^{xx} शास्त्री उदयवीर- सांख्य दर्शनम,पृ 53; विरजानन्द वैदिक संस्थान, गाजियाबाद 1976
- ^{xxi} शास्त्री उदयवीर- न्याय दर्शनम,पृ 54 गोविंदराम दासानंद, दिल्ली-61991
- ^{xxii} उपाध्याय वलदेव- भारतीय दर्शन, पृ 293, चौखम्बा ओरिएंटल, वाराणासी 1976
- ^{xxiii} त्रिपाठी विशाल प्रसाद- प्रतभिज्ञा हृदयम, पृ 68;नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली 1969.
- ^{xxiv} त्रिपाठी विशाल प्रसाद- प्रतभिज्ञा हृदयम, पृ 76 नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली 1969.
- ^{xxv} जयदेव सिंह- प्रतभिज्ञा हृदयम, पृ 51;मोतीलाल बनारसी दास,डिल्ले-7 1983
- ^{xxvi} पेट्रिक जार्ज टाम्स - दर्शन शास्त्र का परिचय, पृ 242; हरियाणा हिन्दी ग्रंथ अकादमी, चंडीगढ़ 1973
- ^{xxvii} फ्रांस का दार्शनिक, जन्म 1596
- ^{xxviii} स्काटलैंड, जन्म-1711
- ^{xxix} पेट्रिक जार्ज टाम्स - दर्शन शास्त्र का परिचय, पृ 244 हरियाणा हिन्दी ग्रंथ अकादमी, चंडीगढ़ 1973
- ^{xxx} पाण्डेय संगमलाल- काँट का दर्शन , पृ 121-123; लोकभरती प्रकाशन,15ए महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद 1971
- ^{xxxi} पेट्रिक जार्ज टाम्स - दर्शन शास्त्र का परिचय, पृ 16; हरियाणा हिन्दी ग्रंथ अकादमी, चंडीगढ़ 1973